सिनेमा का शैक्षिक संदर्भ

विनोद अनुपम*

इसमें कोई संदेह नहीं कि आज सिनेमा के बढ़ते वर्चस्व ने हमारे जीवन में विविध पहलूओं पर गहरा प्रभाव छोड़ा है। सिनेमा को बनाने वाले तो सृजन का आनन्द लेते हैं परन्तु देखने वाले की कल्पनाशक्ति को आघात पहुँचता है, और बेहतर की सोच कुन्द सी हो जाती है। इसका सबसे ज्यादा प्रभाव बच्चों पर पड़ता है। क्या इसके लिए बच्चों को सिनेमा दिखाना बन्द किया जाए? क्या कोई और तरीका भी हो सकता है जिससे सिनेमा का बुद्धिमतापूर्ण उपयोग हो सके। सिनेमा से संबंधित इसी तरह के कुछ महत्त्वपूर्ण मुद्दों पर चर्चा करना आज के समय में आवश्यक माना जा रहा है। प्रस्तुत लेख इसी विषय पर एक गहन चिंतन प्रस्तुत करता है।

1926 में महात्मा गाँधी ने 'यंग इण्डिया' में सिनेमा की आलोचना करते हुए लिखा था— ''इसका बुरा प्रभाव प्रतिदिन जबर्दस्ती मेरे ऊपर पड़ता है।'' 1935 में प्रेमचंद 'हंस' में लिखते हैं–''सिनेमा अगर हमारे जीवन को स्वस्थ आनंद नहीं दे पाता है, हममें निर्लज्जता और धूर्तता और कुरुचि को बढ़ाता है, और पशुता की ओर ले जाता है, तो जितनी जल्दी उसका निशान मिट जाए, उतना अच्छा।'' वृंदावन लाल वर्मा ने भी कभी लिखा था, सिनेमा को काली मैया उठा ले जाएँ। वास्तव में यदि कोसने से ही बुराइयों का अंत होना होता तो अब तक हम लोग रामराज्य में रह रहे होते। किसी भी बुराई की उपेक्षा कर उसे समाप्त नहीं किया जा सकता। समाप्त करने के लिए कोशिश करनी पड़ती है। 1965 में वृंदावन लाल वर्मा ने भी इसे महसूस करते हुए लिखा था, 'फिल्म का प्रभाव दर्शक-श्रोता पर बहुत शीघ्र और गहरा पड़ता है। गन्दी फिल्मों की बहुतायत है, जो समाज को पतन की ओर ले जा रही है। अपनी संस्तुति की रक्षा और देश के ऊँचे आदर्शों को बचाने, ऊपर लाने की बड़ी आवश्यकता है। लेकिन चिंता की बात है कि क्या इतने प्रभावशाली माध्यम के नकारात्मक प्रभाव को सकारात्मक बनाने के लिए कोई सक्रिय प्रयास

*बी-53, सचिवालय कॉलोनी, कंकड़बाग, पटना-20, बिहार.

किए गए? सिनेमा संस्तुति के लिए यह किसी विडंबना से कम नहीं कि लगभग 40 वर्षों बाद भी वर्मा जी के सवाल प्रासंगिक हैं।

1896 में यूरोप में लुमियर बंधुओं द्वारा किए गए सिनेमा के प्रथम प्रदर्शन के कुछेक महीनों बाद ही सिनेमा भारत में भी देखा जा सका था। 1897 में यहाँ प्रायोगिक स्तर पर फिल्म बनाने की शुरुआत भी हो गई थी। 1913 में दादा साहब फालके ने यहाँ अपनी फीचर फिल्म 'राजा हरिश्चन्द्र' पूरी की और आज लगभग 800 फिल्में प्रति वर्ष निर्मित कर हम दुनियाभर में शीर्ष पर हैं। तमाम नाराजगियों, उपेक्षाओं, अवहेलनाओं के बावजूद भारत में सिनेमा का इस स्थिति तक पहुँच पाना निश्चय ही इस माध्यम की ताकत का अहसास कराने के लिए काफी है।

सिनेमा की ताकत का सबसे बड़ा कारण सिर्फ यही नहीं है कि हम चीजों को, घटनाओं को वैसे ही देखते हैं, जैसा वह है या हुआ है। बल्कि मानसिक रूप से हम भी घटनाओं के अन्दर होते हैं। वास्तव में किसी भी दृश्य के केंद्र में दर्शकों के आँख और कान के साथ दिमाग की भी सहभागिता जरुरी होती है। सिनेमा की यह विशेषता है कि यह जितनी सामने दिखती है, उतनी ही हमारे दिमाग में भी बनती है। किसी कलाकार को पहाड़ की चढ़ाई पार करते हुए देखते हैं। पहाड़ चढ़ते आँखों से देखते हैं, कानों से उसके पैरों की आवाज, कीलें गाड़ने की आवाज, आसपास के वातावरण जंगल-झरने वगैरह की ध्वनि भी सुनते हैं। सारा कुछ वास्तविक, लेकिन वास्तविक समय का सिर्फ हमें अहसास कराया जाता है। सात दिन के वास्तविक समय में पूरी होने वाली चढ़ाई को सिर्फ सात शॉटों में सात मिनट से भी कम में दिखा दिया जाता है। बाकी की कमी हमारा दिमाग पूरी करता है। वास्तव में कलाकार को पहाड़ी चढ़ते सिर्फ हम देखते ही नहीं, उसके साथ होते हैं, मानसिक तौर पर। आश्चर्य नहीं कि लुई बुनेवेंल ने माना था सिनेमा हमारे दिमाग पर अफीम-सा असर करता है।

जे. पी. दत्ता की 'एलओसी-कारगिल' वैचारिक स्तर पर बहुत परिपक्व नहीं रहते हुए भी तकनीकी कुशलता के लिए देखी जानी चाहिए। फिल्म में हमेशा ही दर्शक सबसे उचित जगह पर होता है, जहाँ से पूरे दृश्य में उसकी भागीदारी हो सके, अधिक से अधिक वह देख सके, अधिक से अधिक वह सुन सके। एक ओर कारगिल की विकट परिस्थितियों को दिखाने के लिए एरियल शॉट का इस्तेमाल किया जाता है तो दूसरी ओर सैनिकों के पीछे कैमरा हाथ में लेकर भी दौड़ा जाता है ताकि अनगढ़ पहाड़ियों का 'जर्क' दर्शक भी महसूस कर सकें। कैमरे की कुशलता इसी से आँकी जाती है कि किस हद तक वह दर्शक की आँख बन सका है।

मानसिक रूप से अपने आप को दृश्य के अंदर महसूस करवा लेने की क्षमता ही है जो सिनेमा को इस कदर संप्रेष्य बनाती है कि करोड़ों लोग बिना किसी फिल्मी भाषा और तकनीक की समझ के टिकट खरीदते हैं, फिल्म देखते हैं और अपनी जरुरत के अनुसार उसे समझते-स्वीकार करते है। साहित्य या कला को यह सुविधा उपलब्ध नहीं है, साहित्य या कला का रसास्वादन हम तब तक नहीं कर सकते जब तक कि उसके व्याकरण की मोटी समझ भी न हो। सिनेमा ने

अपने लिए ऐसी स्वाभाविक भाषा का चुनाव किया है जो सामान्य मनुष्य की मात्र आभासी क्षमता के सिद्धांत पर आधारित होती है।

वास्तव में भारतीय संस्कृति में जब सिनेमा को नाजुक मन बच्चों और किशोरों के लिए त्याज्य माना जाता था तो उसकी वजह सिर्फ यह नहीं कि उस समय तथाकथित 'गन्दी फिल्मों' की बहुतायत थी, उसकी सही वजह तत्कालीन भारतीय समाज की यह प्रौढ़ और वाजिब समझ थी कि सिनेमा कहीं न कहीं हमारे सोचने समझने और कल्पना की क्षमता को क्षीण करती है। उन्हें आभास था कि 'क्रिस' की उड़ान बच्चों के मस्तिस्क को इस कदर कुंद बना सकता है कि वे अंधानुकरण में छत से छलाँग लगा सकते हैं जबकि उनका 'स्वतंत्र' मस्तिष्क 'क्रिस' से भी ज्यादा ऊँची उड़ान भर सकता है। वास्तव में हमारे मन में कोई कल्पना आकार लेती है तो हम उस कल्पना को साकार करने की कोशिश के पूर्व उसे तर्क पर कसते हैं, जबकि सामने साकार दिखते 'सत्य' को देख हमें तर्क करने की जरुरत ही महसूस नहीं होती।

जब हम रामायण पढ़ते हैं तो हरेक व्यक्ति के मन में राम की तस्वीर अलग बनती है। अपने-अपने तर्क के अनुसार एक समुचित 'राम' को वे गढ़ते हैं। आश्चर्य नहीं कि भारत में रामलीला के कुछ और रूप होते हैं जबकि इंडोनेशिया में कुछ और। लेकिन सिनेमा यह सुविधा नहीं देती। जितने ही जड़ मस्तिस्क के साथ हम उसे देखें उसे सहुलियत होती है। उसकी सफलता इसी में है कि हम अपनी कल्पना की उड़ान को प्रतिबंधित कर अपनी समझ को उसकी समझ के आगे समर्पित कर दें। शायद इसी लिए सिनेमा अपनी विशेषता के रूप में इसे स्वीकार भी करती है। सुभाष घई, डेविड धवन जैसे लोकप्रिय फिल्मकार तो स्पष्ट कहते भी हैं, कि मेरी फिल्मों का आनन्द लेना हो तो दिमाग छोड़ कर देखें। एक नवोदित (बाल या किशोर) मस्तिस्क के लिए जहां हर पल नए आमद की गुंजाइश बनी रहती है, उसे यह जड़ता कितनी प्रभावित कर सकती है। इस पर एक गहन अध्ययन की जरुरत है।

हममें से कितने लोग होंगे, जिन्होंने सिनेमा देखने के लिए कभी न कभी डाँट न सुनी हो, तमाम विरोधों के बावजूद यह स्वीकार करने में कतई एतराज नहीं हो सकता कि सिनेमा आम जन के मनोरंजन का सबसे सशक्त और प्रभावशाली माध्यम है। भारत में ही नहीं, दुनियाभर में– पाकिस्तान, ईरान, श्रीलंका से लेकर इंग्लैंड, अमेरिका, जापान तक। मॉरक्वेज को अपनी क्रांतिकारी विचार धारा के प्रसार के लिए भी सिनेमा विधा आकर्षित करती है, तो डेविड धवन को अपनी मूर्खताओं से दर्शकों को खुश कर पैसे ऐंठने के लिए भी सिनेमा ही चाहिए, स्थिति आज यहाँ तक पहुँच चुकी है कि सिनेमा हमारे घर के अंदर प्रवेश कर चुका है। हम इसे देखें या नहीं, यह भी अब हमारी इच्छा पर निर्भर नहीं करता है। न्यूज चैनल पर भी सिनेमा के लिए अलग स्लॉट है, मनोरंजन चैनल पर भी और खास तौर से सिनेमा के लिए तो दर्जनों चैनल हैं ही। क्या बालू में सर गाड़कर तूफान को रोका जा सकता है?

आज टेलीविजन के विस्तार ने पूरे भारत को आच्छादित कर रखा है। मुंबई के बांद्रा से लेकर

बस्तर की बस्तियों तक दुनियाँ को उँगलियों के इशारे पर नचाने वाली डिश एन्टीना की छतरी देखी जा सकती है। टेलीविजन के साथ भी सिनेमा की संस्कृति हम तक पहुँच रही है। सिनेमा की संस्कृति अब सिर्फ कपड़े के फैशन और बालों के स्टाइल को प्रभावित नहीं कर रही है बल्कि अब इसने सामाजिक मूल्यों को भी प्रभावित करने की ताकत हासिल कर ली है। सामाजिक समस्याओं को सिनेमा ने अपने लगातार प्रभाव से इतना तरल बना दिया है कि हिंसा, अपराध, व्यभिचार, बलात्कार अब कुछ भी हमें बेचैन नहीं कर पाता।

सिनेमा के इस प्रभाव को समझते हुए पश्चिमी देशों में 50 के दशक से ही फिल्म अध्ययन पर गंभीरता से विचार करना शुरु कर दिया था। शिक्षाशास्त्रियों और मनोवैज्ञानिकों के लिए वहाँ पर चिंता का विषय था कि बच्चे जितना समय स्कूल में व्यतीत करते हैं उससे कहीं अधिक टेलीविजन के सामने। अपने अध्ययन में उन्होंने पाया कि दो वर्ष की उम्र से ही जब बच्चे मातृभाषा सीखने की शुरुआत करते हैं टेलीविजन और फिल्म जैसे दृश्य-श्रव्य माध्यमों से भी संदेश ग्रहण की शुरूआत कर देते है। दो तीन साल के बच्चे का कार्टून नेटवर्क के आगे शांत पड़े रहना कोई संयोग नहीं, बल्कि हमें यह स्वीकार करना चाहिए कि बकायदा उसे देख रहा होता है, महसूस कर रहा होता है।

सिनेमा आज हमारी जीवन शैली में शामिल हो चुका है। खाना खाना, ऑफिस जाना, स्कूल जाने की तरह सिनेमा को भी हमने अपनी अनिवार्यता में शामिल कर लिया है। हमें याद है कॉलेज जाने के बाद भी फिल्म पत्रिकाएँ हमने अभिभावकों से छिपकर पढ़ी थीं। फिल्म देखने की बकायदा अभिभावकों से इजाजत ली जाती थी, वह भी दो-चार महिने में एक बार। यह इजाजत भी 'जय हनुमान' या 'हिन्दुस्तान की कसम' देखने के लिए ही मिलती थी। आज आश्चर्य है कि फिल्म देखना कोई विषय ही नहीं रहा भारतीय समाज के लिए। यहाँ तक कि वयस्क प्रमाण-पत्र वाली भी फिल्में देखने के लिए बच्चों को ले जाते हुए हमें छोटी-सी हिचक भी नहीं होती। फिल्म देखते हुए बच्चे 'कमीने' का मतलब पूछते हैं और हम मुस्कुराते हैं।

तथाकथित आधुनिक होते भारतीय समाज की यह विडम्बना ही है कि यह निरन्तर सिमटता जा रहा है। वास्तविक परिवार और समाज से होती दूरी को 'वर्चुअल' समाज से पाटने की उसके पास मजबूरी होती है। क्योंकि समाज तो चाहिए ही। इस चाहिए के लिए विकल्प उसे सिनेमा में मिला। इस 'वर्चुअल' समाज की खासियत थी, यह उसकी माँग पर उपलब्ध था। जब भी अकेलापन महसूस हो, चलो सिनेमा। एक सुखद भरे-पूरे वातावरण से संतुष्ट लौटकर फिर लग गए अकेले अपने रोज के जद्दोजहद में। शायद इसी लिए सिनेमा देखना जो पहले साल-छः महीने का उत्सव होता था, अब हफ्ते का शगल बन गया। यह भी गौरतलब है कि गाँव, कस्बा, शहर, नगर, महानगर जैसे-जैसे पारिवारिक ईकाइयाँ छोटी होती गई इस शगल की सघनता भी बढ़ती गई। यह भी उल्लेखनीय है कि इस शगल ने सबसे ज्यादा बच्चों को प्रभावित किया, क्योंकि एकल परिवारों में सबसे अकेले वही थे। आश्चर्य नहीं कि एकल परिवारों के

सिनेमा देखने का निर्णय धीरे-धीरे बच्चों के हाथों में सिमटता चला गया। उन्हें मतलब सिनेमा से नहीं, बस सिनेमा घर के मेले और सिनेमा के पर्दे पर सुलभ 'वर्चुअल' दुनिया से थी। और अभिभावकों के लिए उन्हें सिनेमा ले जाना वास्तव में कहीं न कहीं उन्हें अपने भरे-पूरे समाज से काटने की एक क्षतिपूर्ति थी। लेकिन यह 'क्षतिपूर्ति' वास्तव में किस तरह उनकी समझ को अपनी दुनिया के प्रति जड़ बना रही थी, हमने इस पर गौर करने की जरुरत नहीं समझी।

आज इस स्थिति में जब सिनेमा के प्रवाह को रोका नहीं जा सकता, क्या बेहतर यह नहीं कि लोगों को सिनेमा देखने से रोकने के बजाए उसे सिनेमा देखना सिखाएँ। सिखाने का अर्थ है बकायदा फिल्म अध्ययन आखिरकार अध्ययन का उद्देश्य क्या है! कोई भी विषय साहित्य हो, विज्ञान हो, कला हो या तकनीक हो हम क्यों पढ़ते हैं! वास्तव में विधिवत अध्ययन का उद्देश्य दिमाग को ऐसे साधन से लैस किया जाना है कि वे ज्ञान की गूढ़ दुनिया को समझ सकें। क्योंकि किसी भी विषय को एक व्यक्ति अपनी सामान्य समझ से एक सीमा तक ही समझ सकता है। सिनेमा तो कला की सबसे 'कॉम्पलेक्स' विधा है, इसमें साहित्य भी है, कला भी, विज्ञान भी, तकनीक भी। सिनेमा पर हरेक दृष्टिकोण से विचार करने की, अध्ययन की जरुरत है। एक कला माध्यम के रूप में, संप्रेषण के एक सशक्त दृश्य-श्रव्य माध्यम के रूप में, एक लोकप्रिय जन मनोरंजन के रूप में, सूचनाएँ और सामाजिक मूल्यबोध को संचारित करने वाले साधन के रूप में, सांस्कृतिक वातावरण का निर्माण करने वाले एक अभिकरण के रूप में हरेक परिप्रेक्ष्य सिनेमा पर विस्तार से विचार करने की अपेक्षा रखता है। और वह अपेक्षा एक विधिवत नियमित अध्ययन से ही पूरी हो सकती है। फिल्म अध्ययन सिर्फ फिल्म की ही नहीं पूरे सांस्कृतिक वातावरण को समझने में सहायक हो सकता है।

1980 में नेशनल फिल्म पॉलिसी कमिटी द्वारा फिल्म अध्ययन को राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली में आठवीं कक्षा से अनौपचारिक शिक्षा में और कॉलेज-विश्वविद्यालय स्तर पर औपचारिक शिक्षा में शामिल करने की अनुशंसा की गई थी। भारत सरकार ने अनुशंसा को स्वीकार करते हुए यू.जी.सी. और एन.सी.ई.आर.टी. को फिल्म अध्ययन की दिशा में आवश्यक कदम उठाने के निर्देश भी उसी समय जारी किए थे। लेकिन आज भी दूरदर्शन के यू.जी.सी. कार्यक्रमों में 'अंडरस्टैंडिंग सिनेमा' की एक सीरीज प्रसारित करने और यादवपुर जैसे कुछेक विश्वविद्यालयों में शोध और स्नातकोत्तर स्तर पर एक विषय के रूप में स्वीकार कर लेने के बावजूद फिल्म अध्ययन पहले की तरह अस्पृश्य बना हुआ है।

आज एक ओर अपनी ही संस्कृति को हाशिए पर डाल रखने की ही नहीं, घृणा करने की राजनीति का दबाव, दूसरी ओर संस्कृति को 'यूनिफार्म' बनाने का दबाव और तीसरी तरफ वैश्विक संस्कृति को बढ़ावा देने की कोशिश। कुल मिलाकर समय सचेत होने का है। यदि अभी भी सिनेमा पर हमने अपना 'नियंत्रण' नहीं कायम किया तो फिर आगे कितना भी विलाप करें निष्कर्ष हाथ नहीं आ सकता। इसके लिए सबसे पहले एक बार फिर से नेशनल फिल्म

पॉलिसी 1980 को याद करने की जरुरत है ताकि सिनेमा के प्रति बचपन से ही एक सही समझ विकसित हो सके। यह एक दिन की कोशिशों से नहीं हो सकता, लगातार विधिवत अध्ययन से ही बच्चों में सही और गलत सिनेमा की समझ को विकसित की जा सकती है। बच्चों को महान फिल्मकारों की क्लासिक फिल्में दिखाने की गंभीर कोशिश शुरु की जानी चाहिए, ताकि वे डेविड धवन और विमल रॉय का फर्क महसूस कर सकें।

साहित्य के साथ हमने कोशिश की, आज छोटे से बच्चे को भी प्रेमचंद और प्रेम वाजपेयी का फर्क मालूम है। आज की सच्चाई है कि लोगों को सिनेमा देखने से हम रोक नहीं सकते हैं, कोशिश कर सकते हैं कि वे सिनेमा को सिनेमा की तरह ग्रहण करें, एक स्वस्थ आलोचकीय समझ के साथ।